VRI Series No. 115

धर्म का सर्वहितकारी स्वरूप

सत्यनारायण गोयन्का

विपश्यना विशोधन विन्यास,
धम्मगिरि, इगतपुरी- ४२२ ४०३,
महाराष्ट्र, भारत

विपश्यनाः एक परिचय

श्री गोयन्काजी ने म्यंमा के महान विपश्यना आचार्य सयाजी ऊ बा खिन से सर्वप्रथम सन १९५५ में 'विपश्यना' की साधना सीखी। तब से अभ्यास का क्रम जारी रहा। सन १९६९ में भारत आये। व्यापार-धंधे से सर्वथा अवकाश ग्रहण कर भारत के विभिन्न स्थानों पर **विपश्यना** साधना-विधि के दस दिवसीय शिविर लगाते रहे। सन १९७६ में प्रमुख विपश्यना केंद्र 'धम्मगिरि' की स्थापना के पश्चात अब तक पूरे विश्व में लगभग ५० विपश्यना केंद्र स्थापित हो चुके हैं तथा अन्य नए-नए केंद्र खुलते चले जा रहे हैं, जहां साधकों के लिए निःशुल्क निवास तथा भोजनादि की स्थाई व्यवस्था रहती है। विपश्यना सिखाने का सारा खर्च कृतज्ञ साधकों के दान पर निर्भर होता है। शिविरों का संचालन पूज्य गोयन्काजी तथा उनके द्वारा नियुक्त विश्व भर के लगभग ४०० से अधिक सहायक आचार्यों द्वारा किया जाता है। शिविर-काल के दौरान साधकों को बाहरी संपर्क से दूर, केंद्रों पर ही रहना अनिवार्य होता है।

भगवान गौतम बुद्ध द्वारा गवेषित 'विपश्यना' विद्या सर्वथा संप्रदायहीन एक प्रयोग प्रधान विधा है जिसमें अपने भीतर की सच्चाई का दर्शन करते हुए अपने मन को निर्मल बनाना तथा ऋत यानी प्रकृति के नियम के अनुसार आचरण करने का अभ्यास किया जाता है। इसी को धर्म कहते हैं। कालांतर में हम **धर्म** शब्द का सही अर्थ भूल गये और संप्रदाय को ही धर्म मानने लगे। आज जबकि धर्म के नाम पर चारों ओर इतनी अराजकता फैली हुई है, यह सांप्रदायिकता-विहीन विद्या घोर अंधकार में प्रकाश-स्तंभ सदृश है।

ध्यान की यह विद्या सीखने के लिए हर संप्रदाय के लोग – चाहे वे हिंदू हों या मुस्लिम; जैन, ईसाई, बौद्ध हों या सिक्ख – सभी आते हैं। बच्चों से लेकर वृद्ध बुजुर्गों तक सब उम्र के लोग आते हैं। बहुत ऊंची शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी आते हैं तो दूसरी ओर बिल्कुल निरक्षर अनपढ़ लोग भी आते हैं। अत्यंत धन-संपन्न भी आते हैं और बिल्कुल धनहीन भी। पुरुष-नारी तथा डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, व्यापार-उद्योगों के संचालक सभी आते हैं। किसी भी विपश्यना शिविर में समाज के हर वर्ग का यह अनूठा संगम आसानी से देखा जा सकता है। इतनी विविधताओं के होते हुए भी सभी लोग लाभान्वित होते हैं।

पूज्य श्री गोयन्काजी का यह लेख अधिक से अधिक लोगों को धर्म-मार्ग पर चल सकने के लिए प्रेरणा प्रदायक सिद्ध हो, यही मंगल भावना है।

विपश्यना विशोधन विन्यास.

मूल्यः रु. १/-

प्रकाशक :

विपश्यना विशोधन विन्यास

धम्मगिरि, इगतपुरी- ४२२४०३, जिला- नाशिक, महाराष्ट्र, भारत

फोनः ०२५५३- २४४०७६, २४४०८६, २४४३०२ फैक्सः ०२५५३- २४४१७६.

धर्म का सर्वहितकारी स्वरूप

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से अलग-थलग रहना उसके लिए न उचित है और न ही संभव। समाज में रहते हुए समाज के लिए अधिक से अधिक स्वस्थ सहायक बना रह सके, इसी में उसके जीवन की उपादेयता है, सार्थकता है। स्वस्थ व्यक्तियों से ही स्वस्थ समाज का निर्माण होता है। अस्वस्थ व्यक्ति वही है जिसका मन विकारों से विकृत रहता है। ऐसा व्यक्ति स्वयं तो दुखी रहता ही है अपने संपर्क में आने वालों को भी उत्तापित करता है। अतः सुखी-स्वस्थ समाज का निर्माण करने के लिए व्यक्ति-व्यक्ति को सुख-स्वास्थ्य से भरपूर करना नितांत आवश्यक है। एक-एक व्यक्ति स्वच्छ-चित्त हो, शांतचित्त हो, तो ही समग्र समाज की शांति बनी रह सकती है। धर्म इस व्यक्तिगत शांति के लिए एक अनुपम साधन है और इस कारण विश्व-शांति का भी एकमात्र साधन है।

धर्म का अर्थ संप्रदाय नहीं है। संप्रदाय तो मनुष्य-मनुष्य और वर्ग-वर्ग के बीच दीवारें खड़ी करने, विभाजन पैदा करने का काम करता है। जबकि शुद्ध धर्म दीवारों को तोड़ता है, विभाजनों को दूर करता है। शुद्ध धर्म मनुष्य के भीतर समाये हुए अहंभाव अथवा हीनभाव को जड़ से उखाड़ फेंकता है। मानव मन की आशंकाएं, उत्तेजनाएं, उद्विग्नताएं दूर करता है और उसे स्वच्छता और निर्मलता के उस धरातल पर प्रतिष्ठित करता है, जहां न अहंकारजन्य दंभ टिक सकता है, और न ही हीनभाव की ग्रन्थियों से ग्रस्त दैन्य पनप सकता है। जीवन में समत्वभाव आता है और हर वस्तु, व्यक्ति और स्थिति को उसके यथार्थ स्वरूप में देख सकने की निर्मल प्रज्ञा जागती है। अतिरंजना और अतिशयोक्तियों में डूबा हुआ भक्ति-भावावेश दूर होता है। ज्ञान, विवेक, बोधि के अंतर्चक्षु विरज-विमल बन जाते हैं। अंतर्दृष्टि पारदर्शी बन जाती है। उसके सामने से सारा कुहरा, सारी धुंध दूर हो जाती है। यह जो हमने सुनी-सुनाई और पढ़ी-पढ़ाई बातों से अपने मन को विकृत कर लिया है, यही पूर्वाग्रह रूपी विकृतियां सत्य दर्शन में बाधा पैदा करती हैं। पूर्वनिश्चित धारणाएं और मान्यताएं हमारी आँखों पर रंगीन चश्मों की तरह चढ़ी रहती हैं और हमें वास्तविक सत्य को अपने ही रंग में देखने के लिए बाध्य करती हैं। धर्म के नाम पर हमने इन बेड़ियों को सुंदर आभूषणों की तरह पहन रखा है। सच्ची मुक्ति के लिए इन बड़ियों का टूटना नितांत आवश्यक है।

चित्त को राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या, मात्सर्य, दुर्भावना, दौर्मनस्य, भय, आशंका, मिथ्या काल्पनिक दृष्टियों, मान्यताओं और रूढ़ियों की जकड़ से मुक्त करने के लिए आवश्यक है कि सारी रूढ़ परंपराओं को एक ओर रख कर, भावुकता को दूर हटा कर, हम यथार्थ में जीना सीखें। यथार्थ में जीना वर्तमान में जीना है, इस क्षण में जीना है। क्योंकि बीता हुआ क्षण यथार्थ नहीं, वह तो समाप्त हो चुका। अब तो केवल उसकी याद रह सकती है, वह क्षण नहीं। इसी तरह आने वाला क्षण अभी उपस्थित नहीं है, उसकी केवल कल्पना और कामना हो सकती है; यथार्थ दर्शन नहीं।

वर्तमान में जीने का अर्थ है, इस क्षण में जो कुछ अनुभूत हो रहा है, उसी के प्रति जागरूक होकर जीना। भूतकाल की सुखद या दुखद स्मृतियां अथवा भविष्यकाल की सुखद या दुखद आशाएं-आशंकाएं हमें वर्तमान से दूर ले जाती हैं और इस प्रकार सच्चे जीवन से विमुख रखती हैं। वर्तमान से विमुख ऐसा थोथा निस्सार जीवन ही हमारे लिए विभिन्न क्लेशों का कारण बनता है। अशांति, असंतोष, अतृप्ति, आकुलता, व्यथा और पीड़ा को जन्म देता है। जैसे ही हम 'इस क्षण' या यथाभूत दर्शन करते हुए जीने लगते हैं, वैसे ही क्लेशों से स्वाभाविक मुक्ति मिलने लगती है।

इस देश के एक महापुरुष भगवान तथागत गौतम बुद्ध को यही सम्यक संबोधि प्राप्त हुई। इस क्षण में जीना सीख कर चित्त को संस्कारों से विहीन कर, परम परिशुद्ध कर, बंधनमुक्त हो सकने की कला हासिल हुई। उन्होंने जीवन भर लोगों को इसी कल्याणकारिणी कला का अभ्यास कराया। इसी मंगलमयी विधि का नाम विपश्यना साधना है। साधक को इस क्षण जो कुछ अनुभूत हो रहा है उसी के प्रति जागरूक रहने का वह अभ्यास करता है। अपनी काया के प्रति जागरूक रहते हुए कायानुपश्यना करता है। काया के भिन्न-भिन्न अंगों में अनुभूत होने वाली समस्त सुखद व दुखद अथवा असुखद-अदुखद संवेदनाओं के प्रति जागरूक रहते हुए वेदनानुपश्यना करता है। अपने चित्त के प्रति जागरूक रह कर चित्तानुपश्यना करता है। चित्त में उठने वाली विभिन्न अच्छी-बुरी वृत्तियों के प्रति, उनके गुण, धर्म, स्वभाव के प्रति जागरूक रहता हुआ और अंततः काया, संवेदना, चित्त और चित्तवृत्तियों की परिसीमाओं से परे निर्वाण धर्म का साक्षात्कार करता हुआ धर्मानुपश्यना करता है। जागरूकता का यह अभ्यास उसके चित्त पर पड़े हुए सभी बुरे विकारों और संस्कारों का उच्छेदन करता है। चित्त धीरे-धीरे आसक्तियों, आस्रवों, व्यसनों, तृष्णाओं और तीव्र लालसाओं के बंधन से, अतीत की सुखद-दुखद यादों की निरर्थक उलझनों से, भावी आशंकाओं के भय-भीतिजन्य मानसिक उत्पीड़न से, भविष्य के सुनहरे स्वप्नों की काल्पनिक उधेड़बुन से विमुक्त होता हुआ, अपनी स्वाभाविक नैसर्गिक स्वच्छता को प्राप्त होता है।

समस्त एंठन-अकड़भरी ग्रंथियों और खिंचाव-तनावभरी मानसिक पीड़ाओं को दूर करने का यह एक सहज-सरल तरीका है, जो मानवमात्र के लिए समान रूप से कल्याणकारी है। इसका अभ्यास करने के लिए यह अनिवार्य नहीं कि कोई अपने आपको बौद्ध संप्रदाय में दीक्षित करे। यह भी अनिवार्य नहीं कि इस विधि के प्रवर्तक भगवान बुद्ध की मूर्ति को नमन करे। उसे धूप, दीप, नैवेद्य, आरती से पूजित करे। यह भी नहीं कि साधक उस आदिगुरु के रूप या आकार का ध्यान करे अथवा उसके नाम या मंत्र का जप करे। यह भी नहीं कि उसकी शरण ग्रहण करने के नाम पर ऐसा अंध आत्म-समर्पण कर दे कि बिना स्वयं कुछ किये, केवल उसकी कृपा से ही तर जाने की मिथ्या भ्रांति सिर पर चढ़ जाय। इस विधि से स्वयं लाभान्वित होने के बाद अथवा अन्य लोगों को लाभान्वित होते देख कर यदि कोई साधक उस महाकारुणिक, महाप्रज्ञावान भगवान तथागत के प्रति कृतज्ञता-विभोर होकर उनकी करुणा और प्रज्ञा के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करे तो कोई दोष नहीं। गुणों के प्रति प्रकट की हुई श्रद्धा उन गुणों को अपने जीवन में धारण करने की प्रेरणा प्रदान करती है। अतः कल्याणकारिणी होती है। इसी प्रकार कृतज्ञता भी चित्त की एक

मंगलमयी सद्वृत्ति है। श्रद्धा और कृतज्ञता की भावना चित्त को मृदुल बनाती है, जो कि विपश्यना साधना के इस चित्त-विशुद्धीकरण के प्रयास में सहायक होती है।

विपश्यना साधना का या और चित्त की प्रकृति के यथार्थ स्वरूप के प्रति जागरूक रहना सिखाती है। प्रकृति के यथार्थ दर्शन का यह अभ्यास किसी भी वर्ग, संप्रदाय, जाति, देश, काल व बोली-भाषा के व्यक्ति के लिए कोई कठिनाई पैदा नहीं करता। मानव अपनी ही मानवीय प्रकृति का स्वयं अध्ययन करता है। आत्म-दर्शन करता है। आत्म-निरीक्षण करता है। अपने भीतर समायी हुई गंदगियों का यथाभूत दर्शन करता है। अपने मनोविकारों का यथार्थ अवलोकन करता है। इस प्रकार देखते-देखते वे मनोविकार दूर होते हैं और साधक एक भला, नेक आदमी बन कर सच्चे मानवीय धर्म में संस्थापित होता है। ऐसा नेक इंसान किसी भी जाति, वर्ग या संप्रदाय का क्यों न हो, सारे मानव समाज का गौरव साबित होता है। स्वयं तो सुख-शांति से रहता ही है, अपने संपर्क में आने वाले अन्य सभी लोगों की सुख-शांति बढ़ाने में भी सहायक सिद्ध होता है।

सद्धर्म का यह सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सर्वहितकारी स्वरूप अधिक से अधिक लोगों को उपलब्ध हो और उनके हित-सुख का कारण बने, यही मंगल कामना है।

क्या पड़ा है 'नाम' में?

पुरानी बात है। किसी व्यक्ति के मां-बाप ने उसका नाम पापक (पापी) रख दिया। बड़ा हुआ तो यह नाम उसे बहुत बुरा लगने लगा। उसने अपने आचार्य से प्रार्थना की कि भंते! मेरा नाम बदल दें। यह नाम बड़ा अप्रिय है क्योंकि अशुभ, अमांगलिक और मनहूस है। आचार्य ने उसे समझाया कि नाम तो केवल प्रज्ञप्ति के लिए, व्यवहार-जगत में पुकारने भर के लिए होता है। नाम बदलने से कोई मतलब सिद्ध नहीं होगा। कोई पापक नाम रख कर भी सत्कर्मों से धार्मिक बन सकता है और धार्मिक नाम रहे तो भी दुष्कर्मों से पापी बन जाता है। मुख्य बात कर्म की है। नाम बदलने से क्या होगा?

पर वह नहीं माना। आग्रह करता ही रहा। तब आचार्य ने कहा –"अर्थ-सिद्धि तो कर्म सुधारने से होगी, परंतु यदि तू नाम भी सुधारना चाहता है तो जा, गांव-नगर के लोगों को देख और जिसका नाम तुझे मांगलिक लगे, वह मुझे बता। तेरा नाम वैसा ही बदल दिया जायगा।"

पापक सुंदर नाम वालों की खोज में निकल पड़ा। घर से बाहर निकलते ही उसे शव-यात्रा के दर्शन हुए। पूछा, कौन मर गया? लोगों ने बताया –जीवक। पापक सोचने लगा, नाम जीवक, पर मृत्यु का शिकार हो गया।

आगे बढ़ा तो देखा कि सी दीन-हीन दुखियारी स्त्री को मार-पीट कर घर से निकाला जा रहा है। नाम पूछा तो बताया गया –धनपाली। पापक सोचने लगा, नाम धनपाली और पैसे-पैसे को मोहताज।

और आगे बढ़ा तो एक राह भूले व्यक्ति को लोगों से राह पूछते पाया। नाम पूछा तो बताया गया – पंथक। पापक फिर सोच में पड़ गया। अरे! पंथक भी पंथ पूछते हैं! पंथ भूलते हैं!

पापक वापस लौट आया। अब नाम के प्रति उसका आकर्षण या विकर्षण दूर हो चुका था। बात समझ में आ गयी। क्या पड़ा है नाम में? जीवक भी मरते हैं और अजीवक भी। धनपाली भी दरिद्र होती है और अधनपाली भी। पंथक भी राह भूलते हैं और अपंथक भी। सचमुच नाम की थोथी महत्ता निरर्थक ही है। जनम का अंधा नाम नयनसुख! जनम का दुखिया नाम सदासुख! रहे नाम पापक, मेरा क्या बिगड़ता है? मैं अपना कर्म सुधारूंगा। कर्म ही प्रमुख है। कर्म ही प्रधान है।

जो बात व्यक्ति के नाम पर लागू होती है, वही संप्रदाय के नाम पर भी? न बौद्ध संप्रदाय के सभी लोग बोधिसंपन्न होते हैं और न जैन संप्रदाय के सभी आत्मजित। न ब्राह्मण संप्रदाय के सभी ब्रह्मविहारी होते हैं और न इस्लाम के सभी समर्पित और शांत। जैसे हर व्यक्ति में अच्छाई-बुराई दोनों होती हैं, वैसे हर संप्रदाय में अच्छे-बुरे लोग होते हैं। किसी भी संप्रदाय के न सभी लोग अच्छे हो सकते हैं, न सभी बुरे। परंतु सांप्रदायिक आसक्ति के कारण हम अपने संप्रदाय के हर व्यक्ति को सज्जन और पराए के हर व्यक्ति को दुर्जन मानने लगते हैं। बौद्ध, जैन, ईसाई या मुस्लिम कहलाने मात्र से कोई व्यक्ति न सज्जन बन जाता है, न दुर्जन। बौद्ध कहलानेवाला व्यक्ति परम पुण्यवान भी हो सकता है और नितांत पापी भी। यह बात सभी संप्रदायों पर समान रूप से लागू होती है। जैसे व्यक्ति की पहचान के लिए उसे कोई नाम दिया जाता है, वैसे ही किसी समुदाय की पहचान के लिए भी। इन नामों से गुणों का कोई संबंध नहीं। तेल भरे पीपे पर शुद्ध घी का लेबल लगा देने पर भी तेल, तेल ही रहता है, शुद्ध घी नहीं बन जाता। किसी सुंदर व्यक्ति का नाम कुरूप रख दें तो वह कुरूप और किसी कुरूप को सुंदर कहने लगें तो वह सुंदर नहीं बन जाता। फूल को कांटा अथवा कांटे को फूल कहने लगें तो भी फूल-फूल ही रहता है, कांटा-कांटा ही।

कोई व्यक्ति हो तो रंक, पर नाम हो राजन्य। ऐसा व्यक्ति जब तक इस तथ्य को समझता है कि यह राजन्य नाम केवल संबोधन हित है, वस्तुतः मैं रंक हूं, तब तक वह होश में है। परंतु जिस दिन वह इस नाम का दंभ सिर पर चढ़ा कर, रंक होते हुए भी, अपने आपको राव-राजा मानने और अन्य सभी को हेय दृष्टि से देखने लगता है तो वह प्रमत्त व्यक्ति, लोगों के उपहास का पात्र हो जाता है। लेकिन जहां राजन्य नाम के हजारों-लाखों रंक हों और सबके सब संगठित होकर अपने आपको राव-राजा मानने लगें तथा अन्य सभी लोगों को हेय दृष्टि से देखने लगें तो पागलों का ऐसा गिरोह केवल उपहासास्पद ही नहीं, बल्कि सारे समाज के लिए खतरे का कारण बन जाता है। ठीक यही दशा हमारी हो जाती है, जब हम जातीयता, सांप्रदायिकता या राष्ट्रीयता की वारुणी चढ़ा कर प्रमत्त हो उठते हैं और अपने आपको औरों से श्रेष्ठ मानते हुए उन्हें घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। ऐसी अवस्था में हम भी समाज के लिए खतरे का और अशांति का कारण बन जाते हैं। सच तो यह है कि अपने खतरे और अपनी अशांति का कारण बन जाते हैं। सुख-शांति खोकर सच्चे धर्म से दूर पड़ जाते हैं।

धर्म को जाति, वर्ण, वर्ग, समुदाय, देश, राष्ट्र की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। मानव समाज के किसी भी वर्ग में धर्मवान व्यक्ति हो सकता है। धर्म पर किसी एक वर्ग-विशेष का एकाधिकार नहीं हुआ करता। धर्म हमें नेक आदमी बनना सिखाता है। नेक आदमी नेक आदमी

है। वह अपने संप्रदाय की ही नहीं, प्रत्युत सारे मानव समाज की शोभा है। जो नेक आदमी ही नहीं है, वह नेक हिंदू या मुसलमान, नेक बौद्ध या जैन, नेक भारतीय या बर्मी, नेक ब्राह्मण या क्षत्रिय कैसे हो सकता है? और जो नेक आदमी हो गया वह सही माने में धर्मवान हो गया। उसे कोई किसी नाम से पुकारे, क्या फर्क पड़ता है? गुलाब गुलाब ही रहेगा, नाम बदल देने से उसकी महक में कोई अंतर नहीं आयेगा। जिस बगिया में खिलेगा, न केवल उसे बल्कि आस-पास के सारे वायुमंडल को अपनी सौरभ से सुरभित करेगा। अतः मुख्य बात है धर्मवान बनने की। नेक इंसान बनने की। नाम चाहे सो रहे। बगिया चाहे जिस समुदाय की हो। उस पर चाहे जिस नाम का बोर्ड लगा हो। फूल खिलने चाहिए। सौरभ बिखरना चाहिए।

सांप्रदायिकता और जातीयता का रंगीन चश्मा उतार कर देखें तो ही धर्म का शुद्ध रूप समझ में आता है। अन्यथा अपने संप्रदाय का रंग-रोगन, नाम-लेबल ही सारी प्रमुखता ले लेता है। धर्म का सार महत्त्वहीन हो जाता है। धर्म की कसौटी पर किसी व्यक्ति को कस कर देखना हो तो यह नहीं देखेंगे कि वह किस संप्रदाय में दीक्षित है? अथवा किस दार्शनिक मान्यता को मानता है? अथवा किन रूढ़ियों को पालता है? वरन यह देखेंगे कि उसका आचरण कैसा है? जीवन-व्यवहार कैसा है? कुशल है या नहीं? पावन है या नहीं? आत्म-मंगलकारी और लोक-मंगलकारी है या नहीं? यदि है तो धर्मवान ही है। जितना-जितना है, उतना-उतना धर्मवान है। यदि नहीं है तो उस व्यक्ति का धर्म से कोई संबंध नहीं है। भले वह अपने आपको चाहे जिस नाम से पुकारे, भले वह चाहे जिस संप्रदाय का, चाहे जैसा आकर्षक बिल्ला लगाए फिरे। धर्म का इन सांप्रदायिक बिल्लों से क्या संबंध? कोरे नाम से, बिल्लों से हमें क्या मिलने वाला है? किसी को भी क्या मिलने वाला है? शराब भरी बोतल पर दूध का लेबल लगा हो तो उसे पीकर हम अपनी हानि ही करेंगे। यदि उसमें पानी भरा हो तो उसे पीकर प्यास भले बुझा लें, परंतु बलवान नहीं बन सकेंगे। बलवान बनना हो तो निखालिस दूध पीना होगा। बोतल का रंग-रूप या उस पर लगा लेबल चाहे जो हो। इन नाम और लेबलों में क्या पड़ा है? सांप्रदायिकता, जातीयता और राष्ट्रीयता का भूत सिर पर सवार होता है तो केवल बोतल और बोतल के नाम और लेबल को ही सारा महत्त्व देने लगते हैं। दूध गौण हो जाता है। धर्म गौण हो जाता है।

आओ, इन नाम और लेबलों से ऊपर उठ कर अपने आचरण सुधारें। वाणी को संयमित रखते हुए झूठ, कडुवापन, निंदा और निरर्थक प्रलाप से बचें। शरीर को संयमित रखते हुए हिंसा, चोरी, व्यभिचार और प्रमादसेवन से बचें। अपनी आजीविका को शुद्ध करें और जन-अहितकारी व्यवसायों से बचें। मन को संयमित रखते हुए उसे वश में रखना सीखें। उसे सतत सावधान, जागरूक बने रहने का अभ्यास कराएं और प्रतिक्षण घटने वाली घटना को जैसी है, वैसी, साक्षीभाव से देख सकने का सामर्थ्य बढ़ा कर अंतस की राग, द्वेष और मोह की ग्रंथियां दूर करें। चित्त को नितांत निर्मल बनायें। उसे अनंत मैत्री और करुणा से भरें। बिना नाम-लेबल वाले धर्म का यही मंगल-विधान है।